

Chapter इकतीस

प्रचेताओं को नारद का उपदेश

मैत्रेय उवाच

तत उत्पन्नविज्ञाना आश्वधोक्षजभाषितम् ।

स्मरन्त आत्मजे भार्या विसृज्य प्राव्रजनृहात् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; ततः—तत्पश्चात्; उत्पन्न—विकसित; विज्ञानाः—पूर्ण ज्ञान से युक्त; आशु—अत्यन्त शीघ्र; अधोक्षज—भगवान् द्वारा; भाषितम्—कहे गये; स्मरन्तः—याद करते हुए; आत्म-जे—अपने पुत्र के पास; भार्याम्—पत्नी को; विसृज्य—छोड़ कर; प्राव्रजन्—चले गये; गृहात्—घर से।

महान् सन्त मैत्रेय ने आगे कहा : तत्पश्चात् प्रचेता हजारों वर्षों तक घर में रहे और आध्यात्मिक चेतना में पूर्ण ज्ञान विकसित किया। अन्त में उन्हें भगवान् के आशीर्वादों की याद

आई और वे अपनी पत्नी को अपने सुयोग्य पुत्र के जिम्मे छोड़कर घर से निकल पड़े।

तात्पर्य : प्रचेताओं द्वारा तपस्या सम्पन्न कर लेने पर भगवान् ने उन्हें आशीर्वाद दिया। भगवान् ने उन्हें यह आशीर्ष दिया कि गृहस्थ जीवन समाप्त कर लेने के बाद वे समय आने पर भगवान् के धाम लौट आएँगे। अपना गृहस्थ जीवन समाप्त करने के बाद, देवताओं की गणना के अनुसार जो कई हजार वर्षों तक चला, प्रचेताओं ने अपनी पत्नी को अपने पुत्र दक्ष के संरक्षण में रख कर घर छोड़ने का निश्चय किया। यह वैदिक सभ्यता का विधान है। जीवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचारी रहकर मनुष्य को कठिन तपस्या करते हुए आध्यात्मिक ज्ञान अर्जित करना होता है। ब्रह्मचारी या छात्र को स्त्रियों के साथ मेल-मिलाप करने नहीं दिया जाता, जिससे वे जीवन के प्रारम्भ में काम-सुख के विषय में कुछ न जानें। आधुनिक सभ्यता का मूलभूत दोष यह है कि लड़कों तथा लड़कियों को पाठशाला तथा विद्यालय में ही विषयी जीवन का भोग करने की स्वतंत्रता दे दी जाती है। फलतः अधिकांश बच्चे वर्णसंकर होते हैं, अर्थात् वे अवांछित माता तथा पिता से उत्पन्न हुए होते हैं। फलस्वरूप सारे संसार में अराजकता व्याप्त है। वास्तव में मानवीय सभ्यता को वैदिक नियमों पर आधारित होना चाहिए, जिसका अर्थ है कि जीवन के प्रारम्भ में लड़कों तथा लड़कियों को तपस्या करनी चाहिए और जब वे बड़े हो जाँय तो उनका विवाह हो, फिर वे कुछ काल तक घर में रहें और संतति उत्पन्न करें। जब बच्चे बड़े हो जाँय तो मनुष्य घर छोड़ दे और कृष्णभक्ति की खोज करे। इस प्रकार वह भगवान् के धाम जाकर जीवन को सार्थक बना सकता है।

जब तक कोई विद्यार्थी-जीवन में तपस्या नहीं करता, उसे ईश्वर के अस्तित्व का बोध नहीं हो पाता और कृष्ण के साक्षात्कार के बिना उसका जीवन पूर्ण नहीं हो पाता। निष्कर्ष यह है कि जब लड़के प्रौढ़ हो लें तो पत्नी को लड़कों की देख-रेख छोड़ दें और तब पति कृष्णभक्ति विकसित करने के लिए घर से चला जाये। सब कुछ प्रौढ़ ज्ञान के विकास पर निर्भर करता है। प्रचेताओं के पिता राजा प्राचीनबर्हिषत् ने अपने पुत्रों के आगमन के पूर्व ही, जो जल में तपस्या कर रहे थे, घर छोड़ दिया था। ज्योंही उपयुक्त अवसर मिले अथवा पूर्ण कृष्णभक्ति विकसित हो ले, मनुष्य को चाहिए कि वह घर छोड़ दे, भले ही उसके सारे कार्य पूरे न हुए हों। पहले प्राचीनबर्हिषत् अपने पुत्रों के आने की प्रतीक्षा कर रहा था, किन्तु नारद के उपदेश से ज्योंही उसकी बुद्धि जगी, उसने अपने मंत्रियों से कहा कि वे

उसके आदेशों को पुत्रों तक पहुँचा दें। इस प्रकार उनके आने की प्रतीक्षा किये बिना उसने घर का परित्याग कर दिया।

मनुष्य के लिए सुखप्रद गृहस्थ जीवन का त्याग सर्वथा आवश्यक है और प्रह्लाद महाराज ने इसी का उपदेश दिया है। *हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपम्*—भौतिकतावादी जीवन-शैली समाप्त करने के लिए मनुष्य को तथाकथित सुखप्रद गृहस्थ जीवन छोड़ देना चाहिए, क्योंकि यह आत्मा के हनन (*आत्मपातम्*) का साधन मात्र है। घर को अंधकूप माना गया है, जो घासपात से ढका रहता है। यदि कोई इसमें गिरता है, तो लोगों से उपेक्षित होकर वह मर जाता है। अतः मनुष्य को गृहस्थ जीवन में अत्यधिक लिप्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि इससे यह मनुष्य की कृष्णभक्ति के विकास को नष्ट कर देता है।

दीक्षिता ब्रह्मसत्रेण सर्वभूतात्ममेधसा ।

प्रतीच्यां दिशि वेलायां सिद्धोऽभूद्यत्र जाजलिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

दीक्षिता:—संकल्प करके; ब्रह्म-सत्रेण—परमात्मा के ज्ञान द्वारा; सर्व—समस्त; भूत—जीव; आत्म-मेधसा—आत्म (अपने) स्वरूप को मानते हुए; प्रतीच्याम्—पश्चिमी; दिशि—दिशा में; वेलायाम्—समुद्र तट पर; सिद्धः—पूर्ण; अभूत्—हो गया; यत्र—जहाँ; जाजलिः—ऋषि जाजलि।

प्रचेतागण पश्चिम दिशा में समुद्रतट की ओर गये जहाँ जाजलि ऋषि निवास कर रहे थे। उन्होंने वह आध्यात्मिक ज्ञान पृष्ठ कर लिया जिससे मनुष्य समस्त जीवों के प्रति समभाव रखने लगता है। इस तरह वे कृष्णभक्ति में पटु हो गये।

तात्पर्य : *ब्रह्मसत्र* शब्द का अर्थ है “आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन।” वास्तव में वेद तथा कठिन तप—ये दोनों ब्रह्म कहलाते हैं। *वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म। ब्रह्म* का अर्थ परब्रह्म (परम सत्य) भी है। मनुष्य को वेदों के अध्ययन तथा घोर तपस्या द्वारा परब्रह्म विषयक ज्ञान का अनुशीलन करना होता है। प्रचेताओं ने इस कार्य को समुचित रूप से सम्पन्न किया, फलतः वे समस्त जीवों पर समभाव प्राप्त कर सके। जैसाकि *भगवद्गीता* द्वारा (१८.५४) पृष्ठ होता है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

“मुक्त पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है तथा वह पूर्णतः प्रसन्न हो जाता है। वह न

शोक करता है और न किसी वस्तु की इच्छा करता है; वह प्रत्येक जीव पर समभाव रखता है। इस अवस्था में उसे मेरे प्रति शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है।”

जब मनुष्य को वास्तव में आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो वह विभिन्न प्राणियों में अन्तर नहीं करता। यह पद संकल्पशक्ति से प्राप्त होता है। जब पूर्णज्ञान प्रसार करता है, तो उसे जीव का बाह्य आवरण दिखना बन्द हो जाता है। उसे शरीर के भीतर का आत्मा दिखने लगता है। इस प्रकार उसे मनुष्य तथा पशु में और एक विद्वान् ब्राह्मण तथा एक चण्डाल में अन्तर नहीं दिखता।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

“यथार्थ ज्ञानी विद्या-विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चण्डाल को सम दृष्टि से देखता है।” (भगवद्गीता ५.१८)

विद्वान् पुरुष आध्यात्मिक स्तर पर सबों को एकसमान देखता है और भक्त सबों में कृष्णभक्ति को विकसित होते देखना चाहता है। जिस स्थान पर प्रचेता रह रहे थे वह आध्यात्मिक कार्यों के लिए सर्वथा उपयुक्त था, क्योंकि यह बताया गया है कि वहाँ पर जाजलि ऋषि ने मुक्ति प्राप्त की थी। सिद्धि या मुक्ति के इच्छुक व्यक्ति को मुक्त हुए पुरुष की संगति करनी चाहिए। यह साधु-संग कहलाता है।

तान्निर्जितप्राणमनोवचोदृशो

जितासनान्शान्तसमानविग्रहान् ।

परेऽमले ब्रह्मणि योजितात्मनः

सुरासुरेड्यो ददृशे स्म नारदः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन सबों को; निर्जित—पूर्णतया संयमित; प्राण—प्राणवायु (प्राणायाम विधि से); मनः—मन; वचः—वाणी; दृशः—तथा दृष्टि; जित-आसनान्—योगिक आसन को जीतने वाला; शान्त—शान्त; समान—सीधा; विग्रहान्—जिनके शरीर; परे—दिव्य; अमले—समस्त भौतिक कल्मष से रहित; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; योजित—संलग्न; आत्मनः—जिनके मन; सुर-असुर-ईड्यः—देवों तथा असुरों द्वारा पूजित; ददृशे—देखा; स्म—था; नारदः—नारद मुनि ने।

योगासन का अभ्यास कर लेने पर प्रचेताओं ने प्राणवायु, मन, वाणी तथा बाह्य दृष्टि को वश में करना सीख लिया। इस तरह प्राणायाम विधि से वे भौतिक आसक्ति से पूर्ण रूप से मुक्त हो गये। सीधे बैठकर वे परब्रह्म में अपने मन को केन्द्रित कर सके। जब वे यह प्राणायाम कर रहे थे तो देवताओं तथा असुरों दोनों द्वारा पूजित वन्दित नारद मुनि उन्हें देखने आये।

तात्पर्य : इस श्लोक में परे अमले शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। श्रीमद्भागवत में ब्रह्म-साक्षात्कार की व्याख्या की गई है। परब्रह्म का साक्षात्कार तीन अवस्थाओं में होता है—निराकार तेज (परब्रह्म), अन्तर्यामी परमात्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्। अपनी स्तुति (४.२४.४५) में शिवजी परब्रह्म के स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित करते थे—स्निग्ध प्रावृद्धघनश्यामम्। शिवजी के उपदेश से प्रचेताओं ने भी परब्रह्म के श्यामसुन्दर रूप को मन में धारण किया। यद्यपि निर्गुण ब्रह्म, परमात्मा ब्रह्म तथा परम पुरुष (ब्रह्म) ये सभी आध्यात्मिक स्तर पर एकसमान हैं, किन्तु अध्यात्म में परब्रह्म का स्वरूप ही चरम लक्ष्य होता है।

नारद ऋषि सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। वे असुरों के पास जाते हैं और देवताओं के पास भी जाते हैं जहाँ उनका समान आदर होता है, इसीलिए उन्हें यहाँ पर सुरासुरेड्य कहा गया है, जिसका अर्थ है देवों तथा असुरों द्वारा पूजित। नारद मुनि के लिए प्रत्येक द्वार खुला रहता है। यद्यपि असुरों तथा देवों में सनातन शत्रुता है, किन्तु नारदजी का सर्वत्र सम्मान होता है। निस्सन्देह, नारद जी को देवता माना जाता है और देवर्षि का अर्थ है देवताओं के बीच साधुपुरुष। किन्तु असुर तक भी नारद मुनि से वैर नहीं रखते, अतः उनकी पूजा असुरों तथा देवताओं द्वारा समान रूप से की जाती है। परम वैष्णव की स्थिति नारद मुनि के ही समान होनी चाहिए—पूर्णतया स्वतंत्र एवं द्वेषरहित।

तमागतं त उत्थाय प्रणिपत्याभिनन्द्य च ।

पूजयित्वा यथादेशं सुखासीनमथाब्रुवन् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आगतम्—आया हुआ; ते—सभी प्रचेता; उत्थाय—उठकर; प्रणिपत्य—नमस्कार करके; अभिनन्द्य—स्वागत करके; च—भी; पूजयित्वा—पूजा करके; यथा आदेशम्—विधिपूर्वक; सुख-आसीनम्—सुखपूर्वक आसीन होकर; अथ—इस प्रकार; अब्रुवन्—उन्होंने कहा।

प्रचेताओं ने ज्योंही देखा कि नारद मुनि आये हुए हैं, वे नियमानुसार तुरन्त अपने आसनों से खड़े हो गये। यथा अपेक्षित तुरन्त उन्हें नमस्कार किया तथा उनकी पूजा करने लगे और जब उन्होंने देखा कि वे ठीक से आसन ग्रहण कर चुके हैं, तो उन्होंने उनसे प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया।

तात्पर्य : यह उल्लेखनीय है कि सभी प्रचेता भगवान् पर अपना मन केन्द्रित करने के उद्देश्य से योगसाधना कर रहे थे।

प्रचेतस ऊचुः

स्वागतं ते सुरर्षेऽद्य दिष्ट्या नो दर्शनं गतः ।

तव चङ्क्रमणं ब्रह्मन्नभयाय यथा रवेः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

प्रचेतसः ऊचुः—प्रचेताओं ने कहा; सु-आगतम्—स्वागत; ते—तुम्हारा (तुमको); सुर-ऋषे—हे देवर्षि; अद्य—आज; दिष्ट्या—सौभाग्य से; नः—हम सबके; दर्शनम्—दर्शन; गतः—आया हुआ; तव—तुम्हारा; चङ्क्रमणम्—घूमना-फिरना, गतिविधियाँ; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; अभयाय—अभय के लिए; यथा—जिस तरह; रवेः—सूर्य की ।

सभी प्रचेता नारद मुनि को सम्बोधित करने लगे: हे ऋषि, हे ब्राह्मण, आशा है कि आपको यहाँ आने में किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई होगी। यह हमारा परम सौभाग्य है कि हमें आपके दर्शन हो रहे हैं। सूर्य के चलने से लोग रात के अंधकार के भय से मुक्ति पाते हैं—यह भय चोरों तथा उचक्यों से उत्पन्न होता है। उसी प्रकार आपका भ्रमण सूर्य के ही समान है, क्योंकि आप समस्त प्रकार के भय को भगाने वाले हैं।

तात्पर्य : रात्रि के अंधकार से प्रत्येक व्यक्ति, विशेष रूप से बड़े-बड़े नगरों में, चोरों तथा उचक्यों से भयभीत रहता है। लोग प्रायः सड़कों पर निकलते डरते हैं और हम जानते हैं न्यूयार्क जैसे महानगर में भी लोग रात्रि के समय बाहर निकलना पसन्द नहीं करते। रात्रि के समय प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह नगर में हो या ग्राम में कुछ-न-कुछ भयभीत रहता है। किन्तु सूर्योदय होते ही सबों को चैन मिलता है। इसी प्रकार यह संसार अंधकारपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक पल दुर्घटना से भयभीत रहता है, किन्तु जब उसे नारद-जैसे भक्त के दर्शन होते हैं, तो उसका सारा भय जाता रहता है। जिस प्रकार सूर्य अंधकार को भगा देता है उसी प्रकार नारद-जैसे ऋषि के प्रकट होने से अज्ञान भाग जाता है। जब कोई नारद से या उनके प्रतिनिधि, गुरु, से मिलता है, तो वह अज्ञानजनित समस्त चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है।

यदादिष्टं भगवता शिवेनाधोक्षजेन च ।

तद्गृहेषु प्रसक्तानां प्रायशः क्षपितं प्रभो ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; आदिष्टम्—आदेश (उपदेश) दिया गया था; भगवता—महापुरुष; शिवेन—शिवजी द्वारा; अधोक्षजेन—भगवान् विष्णु द्वारा; च—भी; तत्—वह; गृहेषु—गृहस्थी में; प्रसक्तानाम्—हम आसक्तों द्वारा; प्रायशः—लगभग, प्रायः; क्षपितम्—विस्मृत; प्रभो—हे स्वामी ।

हे स्वामी, हम आपको बता दें कि गृहस्थी में अत्यधिक आसक्त रहने के कारण हम शिवजी

तथा भगवान् विष्णु से प्राप्त उपदेशों को प्रायः भूल चुके हैं।

तात्पर्य : गृहस्थ जीवन में रहते जाना एक प्रकार से इन्द्रियभोग के लिए छूट है। मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि इन्द्रिय भोग आवश्यक नहीं है, किन्तु उसे उसी प्रकार स्वीकार करना पड़ता है, जिस तरह जीवित रहना। इसकी पुष्टि श्रीमद्भागवत (१.२.१०) में मिलती है— कामस्य नेन्द्रियप्रीतिः। मनुष्य को अपनी इन्द्रियों को वश में करके गोस्वामी बनना होता है। उसे अपनी इन्द्रियों का उपयोग केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए ही नहीं करना चाहिए, अपितु उनका उपयोग उतना ही करना चाहिए जितने से शरीर तथा आत्मा का भरण हो सके। श्रील रूप गोस्वामी की संस्तुति है कि— अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः। मनुष्य को विषयों में आसक्त नहीं होना चाहिए, अपितु उतना ही इन्द्रियभोग करना चाहिए जितना आवश्यक हो। यदि कोई आवश्यकता से अधिक भोग करना चाहता है, तो वह गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त हो जाता है, जिसका अर्थ है बन्धन। समस्त प्रचेताओं ने गृहस्थाश्रम में रहने की अपनी भूल स्वीकार की।

तन्नः प्रद्योतयाध्यात्मज्ञानं तत्त्वार्थदर्शनम् ।

येनाञ्जसा तरिष्यामो दुस्तरं भवसागरम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; नः—हमारे लिए; प्रद्योतय—कृपया जगाइये; अध्यात्म—दिव्य; ज्ञानम्—ज्ञान; तत्त्व—परम सत्य; अर्थ—के हेतु; दर्शनम्—दर्शन शास्त्र; येन—जिससे; अञ्जसा—सरलता से; तरिष्यामः—तर सकें; दुस्तरम्—पार करने में कठिन; भव-सागरम्—अविद्या के समुद्र को।

हे स्वामी, हमें दिव्य ज्ञान से प्रकाशित कीजिये जो उस प्रकाश स्तम्भ की तरह कार्य कर सके जिससे हम अविद्या रूपी संसार-सागर को पार कर सकें।

तात्पर्य : प्रचेताओं ने नारद मुनि से दिव्य ज्ञान प्रदान करने की विनती की। सामान्य रूप से जब कोई साधारण व्यक्ति किसी साधु से मिलता है, तो वह कुछ भौतिक आशीर्वाद प्राप्त करना चाहता है। किन्तु प्रचेताओं को किसी भौतिक लाभ की इच्छा न थी, क्योंकि वे उसका पर्याप्त उपभोग कर चुके थे। न ही वे अपनी भौतिक इच्छाओं को पूरा करना चाह रहे थे। वे तो अविद्या के सागर को पार करने के इच्छुक थे। प्रत्येक व्यक्ति को इन भौतिक बन्धनों से निकलने में रुचि लेनी चाहिए और इस सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी साधु पुरुष के निकट जाना चाहिए। उसे साधु पुरुष से भौतिक सुख के लिए आशीर्वाद (वर) प्राप्त करने की परवाह नहीं करनी चाहिए। सामान्यतः

गृहस्थजन साधुओं का स्वागत उनसे आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए करते हैं, किन्तु उनका वास्तविक उद्देश्य तो इस संसार में सुखी रहना होता है। शास्त्रों में ऐसे आशीर्वाद के लिए याचना करने की संस्तुति नहीं की गई है।

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतसां पृष्टो भगवान्नारदो मुनिः ।

भगवत्युत्तमश्लोक आविष्टात्माब्रवीन्नृपान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; प्रचेतसाम्—प्रचेताओं द्वारा; पृष्टः—पूछे जाने पर; भगवान्—भगवान् के महान् भक्त; नारदः—नारद ने; मुनिः—अत्यन्त विचारवान्; भगवति—भगवान् में; उत्तम-श्लोके—अत्यन्त ख्याति वाले; आविष्ट—मग्न; आत्मा—जिसका मन; अब्रवीत्—उत्तर दिया; नृपान्—राजाओं को।

ऋषि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, प्रचेताओं द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर भगवान् के विचारों में निरन्तर लीन रहने वाले परम भक्त नारद ने उत्तर दिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् नारदः सूचित करता है कि नारद सदैव श्रीभगवान् के विचारों में लीन रहते हैं। भगवत्युत्तमश्लोक आविष्टात्मा। नारद के पास कृष्ण का ध्यान धरने, कृष्ण का गुणगान करने तथा कृष्ण का उपदेश करने के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं रहता, इसीलिए उन्हें कभी कभी भगवान् कहा जाता है। भगवान् का अर्थ है “समस्त ऐश्वर्यों वाला”। जब किसी मनुष्य के हृदय के भीतर भगवान् स्थित रहता है, तो उसे भी भगवान् कहा जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—साक्षाद्भरित्वेन समस्तशास्त्रैः—प्रत्येक शास्त्र में गुरु को साक्षात् भगवान् माना गया है। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि गुरु या नारद जैसे साधु पुरुष सचमुच भगवान् हो गए हैं, वरन् इन्हें ऐसा इसलिए स्वीकार किया जाता है, क्योंकि उनके हृदय में भगवान् निरन्तर रहते हैं। जैसाकि यहाँ पर उल्लेख हुआ है (आविष्टात्मा), जब कोई केवल कृष्ण के चिन्तन में लीन रहता है, तो वह भगवान् भी कहलाता है। भगवान् के पास सारे ऐश्वर्य होते हैं। यदि किसी के हृदय में सदैव भगवान् रहते हों तो क्या उसे समस्त ऐश्वर्य स्वतः उपलब्ध नहीं हो जाते? इस अर्थ में नारद जैसे महान् भक्त भगवान् कहला सकते हैं। किन्तु जब कोई धूर्त या धोखेवाज भगवान् कहलाता है, तो हम उसे सहन नहीं कर सकते। उसके पास या तो सारा ऐश्वर्य होना चाहिए या समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी भगवान् होना चाहिए।

नारद उवाच

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।

नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; तत् जन्म—वही जन्म; तानि—वे; कर्माणि—कर्म; तत्—वही; आयुः—उम्र; तत्—वही; मनः—मन; वचः—वाणी; नृणाम्—मनुष्यों की; येन—जिससे; हि—निश्चय ही; विश्व-आत्मा—परमात्मा; सेव्यते—सेवित होता है; हरिः—भगवान्; ईश्वरः—परम नियन्ता ।

महर्षि नारद ने कहा : जब कोई जीवात्मा परम नियन्ता भगवान् की भक्ति करने के लिए जन्म लेता है, तो उसका जन्म, उसके सारे सकाम कर्म, उसकी आयु, उसका मन तथा उसकी वाणी सभी यथार्थ में सिद्ध हो जाते हैं ।

तात्पर्य : इस श्लोक का नृणाम् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । मनुष्य-जन्म के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के जन्म हैं, किन्तु नारद मुनि यहाँ पर मनुष्य-जन्म के विषय में विशेष रूप से कह रहे हैं । मनुष्यों में भी अनेक प्रकार के मनुष्य होते हैं । इनमें से जो मनुष्य आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभक्ति में प्रगति कर चुके होते हैं, वे आर्य कहलाते हैं । इन आर्यों में से भी जो लोग भगवद्भक्ति में लगे रहते हैं उन का जीवन धन्य है । नृणाम् शब्द बताता है कि निम्न पशु भगवद्भक्ति नहीं कर सकते, किन्तु पूर्ण मानव समाज में प्रत्येक व्यक्ति को भगवद्भक्ति में लगाना चाहिए । इसका कोई महत्त्व नहीं है कि वह निर्धन या धनी, श्वेत या काले परिवार में जन्मा है । मानव-समाज में जन्म लेने वाले व्यक्तियों में अनेक प्रकार की भौतिक भिन्नता हो सकती है, किन्तु सबों को भगवद्भक्ति करनी चाहिए । सम्प्रति सभ्य कहे जानेवाले राष्ट्रों ने आर्थिक विकास के फेर में ईश्वर-चेतना को त्याग रखा है । वे ईश्वर-चेतना को विकसित करने में तनिक भी रुचि नहीं रखते । पहले उनके पूर्वज धार्मिक नियमों को सम्पन्न करने में व्यस्त रहते थे । चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, बौद्ध या यहूदी या अन्य कुछ, हर एक की कोई-न-कोई धार्मिक संस्था होती है । किन्तु वास्तविक धर्म का अर्थ है ईश्वर-भक्त (भगवद्भावनाभावित) होना । यहाँ इसका विशेष उल्लेख है कि यदि कृष्णभक्ति में रुचि रखी जाये तो जन्म सार्थक होता है । वही कर्म सफल है, जिससे भगवान् की सेवा हो सके । दार्शनिक चिन्तन या ज्ञान तभी सफल होता है जब उसे भगवान् को समझने में लगाया जाये । वे ही इन्द्रियाँ धन्य हैं, जो भगवान् की सेवा में लगी रहें । वास्तव में भक्ति का अर्थ है इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना । आज के समय में, हमारी इन्द्रियाँ

शुद्ध नहीं हैं, इसीलिए वे समाज-सेवा, मित्रता, प्रेम, राजनीति इत्यादि में लगी रहती हैं। किन्तु जब ये इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लग जाती हैं, तो मनुष्य को भक्ति प्राप्त होती है। अगले श्लोक में इसकी विशद व्याख्या की गई है।

जब भगवान् चैतन्य महाप्रभु के एक महान् भक्त ने महाप्रभु को देखा तो उसने कहा कि उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो गई “आज सभी कुछ शुभ है। आज मेरी जन्मभूमि तथा पास-पड़ोस पूर्णतः महिमामण्डित हो गये। आज मेरी सारी इन्द्रियाँ—आँखों से लेकर अँगूठे तक—भाग्यशाली हैं। आज मेरा जीवन सफल हुआ है, क्योंकि मैं उन चरणकमलों को देख सका जिनकी पूजा लक्ष्मी जी करती हैं।”

किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्रसावित्रयाज्ञिकैः ।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; जन्मभिः—जन्मों से; त्रिभिः—तीन; वा—अथवा; इह—इस संसार में; शौक्र—वीर्य से; सावित्र—दीक्षा से; याज्ञिकैः—पूर्ण ब्राह्मण बनने से; कर्मभिः—कर्म से; वा—अथवा; त्रयी—वेदों में; प्रोक्तैः—उपदिष्ट; पुंसः—मनुष्य को; अपि—भी; विबुध—देवताओं की; आयुषा—आयु से।

सुसंस्कारी मनुष्य के तीन प्रकार के जन्म होते हैं। पहला जन्म शुद्ध माता-पिता से होता है, जिसे वीर्य द्वारा जन्म (शौक्र) कहते हैं। दूसरा जन्म गुरु से दीक्षा लेते समय होता है और यह ‘सावित्र’ कहलाता है। तीसरा जन्म ‘याज्ञिक’ कहलाता है और यह भगवान् विष्णु की पूजा का अवसर मिलने पर होता है। ऐसे जन्म लेने के अवसर प्राप्त होने पर भी यदि किसी को किसी देवता की भी आयु मिल जाये और वह वस्तुतः भगवान् की सेवा में रत न हो तो सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार कर्म चाहे सांसारिक हों या आध्यात्मिक, यदि वे भगवान् को प्रसन्न करने हेतु न हों तो वे व्यर्थ हैं।

तात्पर्य : शौक्र-जन्म शब्द का अर्थ है “वीर्यपात से जन्म लेना।” पशु भी इस प्रकार जन्म ले सकते हैं, किन्तु वैदिक सभ्यता के अनुसार शौक्र जन्म में से जन्मे मनुष्य में सुधार लाया जा सकता है। जन्म लेने के पूर्व अथवा माता-पिता के सम्पर्क के पूर्व गर्भाधान संस्कार होता है जिसका पालन किया जाना चाहिए। यह संस्कार उच्च जातियों के लिए, विशेष रूप से ब्राह्मणों के लिए संस्तुत है। शास्त्रों का कथन है कि यदि उच्च जातियाँ गर्भाधान संस्कार का पालन नहीं करती तो सारा वंश शूद्र बन जाता है।

यह भी कहा गया है कि इस कलियुग में गर्भाधान संस्कार न होने से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है। यही वैदिक पद्धति है। किन्तु पाञ्चरात्रिका पद्धति के अनुसार, यद्यपि गर्भाधान संस्कार के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है, किन्तु यदि किसी में कृष्णभक्त बनने की तनिक भी प्रवृत्ति है, तो उसे भक्ति के दिव्य पद तक उठने का अवसर मिलना चाहिए। हमारा कृष्णभावनामृत-आन्दोलन इसी पाञ्चरात्रिका विधि को अपनाता है जैसाकि श्रील सनातन गोस्वामी का उपदेश है—

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रस विधानतः ।

तथा दीक्षा विधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥

“जिस प्रकार कांस्य धातु पारे के साथ मिलाये जाने पर सोने में बदल जाती है, उसी प्रकार एक पुरुष सोने के समान शुद्ध न होने पर भी केवल दीक्षा के द्वारा ब्राह्मण या द्विज बन सकता है” (हरिभक्ति विलास २.१२)। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति उपयुक्त व्यक्ति द्वारा दीक्षित हो तो उसे तुरन्त द्विज माना जा सकता है। अतः हम अपने कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में शिष्य को पहली दीक्षा देकर उसे हरे कृष्ण महामंत्र का जप करने को कहते हैं। इस मंत्र को नियमित जपने तथा विधि-विधानों का पालन करते रहने से वह ब्राह्मण के रूप में दीक्षित होने के योग्य हो जाता है, क्योंकि जब तक कोई योग्य ब्राह्मण नहीं बन जाता उसे भगवान् विष्णु की पूजा करने की अनुमति नहीं दी जाती। यह याज्ञिक जन्म कहलाता है। हमारे कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में जब तक कोई दो बार दीक्षा ग्रहण नहीं कर लेता—पहली बार हरे कृष्ण जप द्वारा तथा दूसरी बार गायत्री मंत्र के जप द्वारा—तब तक उसे न तो रसोई में, न ही पूजाघर में प्रवेश करने दिया जाता है। किन्तु जब कोई उस पद को प्राप्त करता है, जिसमें वह अर्चा-विग्रह की पूजा कर सके तो उसके पूर्वजन्म पर ध्यान नहीं दिया जाता।

चण्डालोऽपि द्विजश्रेष्ठो हरिभक्तिपरायणः ।

हरिभक्तिविहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधमः ॥

“भले ही कोई चण्डाल के परिवार में क्यों न जन्म ले, यदि वह भगवद्भक्ति करता है, तो वह श्रेष्ठ ब्राह्मण बन जाता है। किन्तु यदि ब्राह्मण होकर भी वह भक्ति से शून्य है, तो वह अधम श्वपच (कुत्ता खाने वाला) के समान होता है।” यदि कोई व्यक्ति भक्ति में पारंगत है, तो चाहे वह चण्डाल कुल में क्यों न जन्म ले, शुद्ध हो जाता है। जैसाकि प्रह्लाद महाराज कहते हैं (भागवत ७.९.१०)—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-

पादारविन्दविमुखाच्छ्रपचं वरिष्ठम् ।

यदि कोई ब्राह्मण हो और समस्त ब्राह्मण गुणों से युक्त हो यदि वह भगवान् की पूजा करने से विमुख होता है तो वह अधम समझा जाता है। किन्तु यदि कोई मनुष्य भगवान् की सेवा में आसक्त रहता है, तो वह महिमामंडित होता है भले ही वह चांडाल कुल में क्यों न जन्मा हो। निस्सन्देह, ऐसा चण्डाल न केवल स्वयं को वरन् अपने परिवार के पुरखों को भी तार देता है। भक्ति के बिना गर्वीला ब्राह्मण अपना भी उद्धार नहीं कर सकता, उसका परिवार तो दूर रहा। शास्त्रों में कई उदाहरण मिलते हैं, जहाँ यह देखा जाता है कि ब्राह्मण भी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ तक बन गया है। और ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं जहाँ क्षत्रिय, वैश्य या अन्य निम्न कुल में उत्पन्न व्यक्ति अठारह वर्ष की अवस्था पा लेने पर व्यक्ति दीक्षा के द्वारा ब्राह्मण पद को प्राप्त कर सका है। अतः नारद मुनि कहते हैं (*भागवत* ७.११.३५) —

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् ।

यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥

यह तथ्य नहीं है कि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति स्वतः ब्राह्मण हो जाता है। उसके ब्राह्मण बनने का अच्छा अवसर रहता है, किन्तु जब तक वह ब्राह्मण-गुणों को पूरा नहीं कर लेता उसे ब्राह्मण नहीं स्वीकार किया जा सकता। दूसरी ओर, यदि किसी शूद्र व्यक्ति में भी ये ब्राह्मण गुण पाये जाते हैं, तो उसे तुरन्त ही ब्राह्मण के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। इसकी पुष्टि के लिए भागवत, महाभारत, भरद्वाज संहिता, पंचरात्र तथा अन्य अनेक शास्त्रों में उदाहरण मिलते हैं।

जहाँ तक देवताओं की आयु का प्रश्न है, ब्रह्माजी के सम्बन्ध में कहा गया है (*भगवद्गीता* ८.१७) —

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

ब्रह्मा का एक दिन चतुर्युगों से एक हजार गुना बड़ा होता है (४३,२०,००० वर्ष)। ब्रह्मा की एक रात्रि भी इसी प्रकार होती है। ब्रह्मा ऐसे दिन-रात वाले एक सौ वर्षों तक जीवित रहता है। *विबुधायुषा*

शब्द सूचित करता है कि यदि किसी को दीर्घायु भी प्राप्त हो, किन्तु यदि वह भक्त नहीं है, तो उसका जीवन व्यर्थ है। जीवात्मा परमेश्वर का शाश्वत सेवक है और जब तक वह भक्ति नहीं करता, उसकी आयु, उत्तम जन्म, सत्कार्य तथा सभी कुछ व्यर्थ हैं।

श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः ।

बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्रुतेन—वैदिक शिक्षा से; तपसा—तपस्या से; वा—अथवा; किम्—क्या अर्थ; वचोभिः—वाणी से; चित्त—चेतना का; वृत्तिभिः—व्यापार से; बुद्ध्या—बुद्धि से; वा—अथवा; किम्—क्या लाभ; निपुणया—निपुण, पटु; बलेन—बल से; इन्द्रिय-राधसा—इन्द्रियों की शक्ति से।

भक्ति के बिना कठिन तपस्या, सुनने, बोलने की शक्ति, चिन्तन शक्ति, उच्च ज्ञान, बल तथा इन्द्रियों की शक्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

तात्पर्य : उपनिषदों से (मुण्डकोनिषद ३.२.३) हमें पता चलता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

केवल वेदों के अध्ययन से परमेश्वर के साथ हमारे सम्बन्ध कभी आगे नहीं बढ़ सकते। अनेक मायावादी संन्यासी वेदों, वेदान्त सूत्रों तथा उपनिषदों के अध्ययन में रत रहते हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश वे ज्ञान का सार ग्रहण नहीं कर पाते। दूसरे शब्दों में, वे भगवान् को नहीं जानते। तो फिर समस्त वेदों के अध्ययन से क्या लाभ, यदि कोई वेदों के सार श्रीकृष्ण को न ग्रहण कर पाये? भगवान् ने *भगवद्गीता* (१५.१५) में पुष्टि की है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—समस्त वेदों के द्वारा मैं जानने योग्य हूँ।

ऐसी अनेक धार्मिक पद्धतियाँ हैं जिनमें तपस्या पर अत्यधिक बल दिया जाता है, किन्तु अन्त तक लोग भगवान् कृष्ण को नहीं समझ पाते। अतः ऐसी तपस्या का कोई अर्थ नहीं है। यदि कोई सचमुच भगवान् के पास पहुँच चुका है, तो उसे तपस्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। भगवान् को भक्तियोग द्वारा समझा जाता है। *भगवद्गीता* के नवम अध्याय में भक्ति को *राजगुह्यम्*—समस्त गुह्यज्ञान का राजा—कहा गया है। वैदिक साहित्य के अनेक उत्तम वाचक हैं और वे रामायण, श्रीमद्भागवत

तथा भगवद्गीता का वाचन करते हैं। कभी-कभी ये व्यावसायिक वाचक अत्यधिक पाण्डित्य तथा वाग्वैदग्ध्य प्रदर्शित करते हैं। दुर्भाग्यवश वे भगवान् के भक्त नहीं होते; अतः वे ज्ञान के सार श्रीकृष्ण के विषय में श्रोताओं को प्रभावित नहीं कर पाते। यद्यपि अनेक विचारवान लेखक तथा सृजनशील दार्शनिक हैं, किन्तु अपने समस्त पाण्डित्य के बावजूद यदि वे भगवान् तक नहीं पहुँच पाते तो वे कोरे ज्ञानी हैं। इस संसार में अनेक प्रखर बुद्धिमान व्यक्ति हैं और वे इन्द्रियतृप्ति के लिए अनेक खोजें करते रहते हैं। वे समस्त भौतिक तत्त्वों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करते हैं, किन्तु उनके पटु ज्ञान तथा समस्त सृष्टि के दक्ष वैज्ञानिक विश्लेषण के बावजूद उनके प्रयास व्यर्थ हैं, क्योंकि वे भगवान् को नहीं समझ पाते।

जहाँ तक हमारी इन्द्रियों का प्रश्न है, ऐसे अनेक पशु तथा पक्षी हैं, जो हमसे अधिक दक्षतापूर्वक अपनी इन्द्रियों का उपयोग कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, गिद्ध अथवा बाज आसमान में बहुत ऊँचाई पर उड़ते हुए भी भूमि की छोटी सी वस्तु को साफ-साफ देख सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनकी दृष्टि इतनी प्रखर है कि वे काफी दूरी से खाद्य शव को पहचान लेते हैं। निश्चय ही उनकी दृष्टि मनुष्य की दृष्टि से अधिक प्रखर है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका अस्तित्व मनुष्य के अस्तित्व से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार कुत्ते काफी दूरी से अनेक वस्तुओं को सूँघ लेते हैं। अनेक मछलियाँ अपने शत्रुओं के आने को समझ लेती हैं। ये सारे उदाहरण *श्रीमद्भागवत* में वर्णित हैं। यदि हमारी इन्द्रियाँ जीवन के चरम लक्ष्य, भगवान् के साक्षात्कार को प्राप्त करने में सहायता नहीं कर सकतीं तो वे सब व्यर्थ हैं।

किं वा योगेन साङ्ख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि ।

किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; वा—अथवा; योगेन—योगाभ्यास द्वारा; साङ्ख्येन—सांख्य दर्शन के अध्ययन से; न्यास—संन्यास ग्रहण करने से; स्वाध्याययोः—तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन से; अपि—भी; किम्—क्या लाभ; वा—अथवा; श्रेयोभिः—शुभ कर्मों द्वारा; अन्यैः—अन्य; च—तथा; न—कभी नहीं; यत्र—जहाँ; आत्म-प्रदः—आत्मा की तृप्ति; हरिः—भगवान्।

जो दिव्य विधिविधान पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात्कार कराने में सहायक नहीं होते, वे व्यर्थ हैं, चाहे वह योगाभ्यास हो या पदार्थ का वैश्लेषिक अध्ययन, कठिन तपस्या, संन्यास ग्रहण करना या कि वैदिक साहित्य का अध्ययन हो। भले ही ये आध्यात्मिक प्रगति के

महत्त्वपूर्ण पक्ष क्यों न हों, किन्तु जब तक कोई भगवान् हरि को नहीं जान लेता ये सारी विधियाँ व्यर्थ हैं।

तात्पर्य : श्रीचैतन्य-चरितामृत (मध्य २४.१०९) में कहा गया है—

भक्ति विना केवल ज्ञाने 'मुक्ति' नाहि हय।

भक्ति साधन करे येइ 'प्राप्त-ब्रह्म-लय' ॥

निर्विशेषवादी, भक्ति न करके अन्य अभ्यास करते हैं जैसे भौतिक तत्त्वों का विश्लेषण, पदार्थ तथा आत्मा में भेद एवं योग-प्रणाली। ये तभी तक उपयोगी हैं जब तक वे भक्ति के पूरक हैं। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने सनातन गोस्वामी से कहा था कि भक्ति के बिना ज्ञान, योग तथा सांख्यदर्शन से वांछित फल प्राप्त नहीं हो सकते। निर्विशेषवादी परमब्रह्म से तादात्म्य चाहते हैं, किन्तु इस तादात्म्य के लिए भी भक्ति चाहिए। परमेश्वर का साक्षात्कार तीन रूपों—निर्गुण ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्—में होता है। इन सबके लिए भक्ति की आवश्यकता पड़ती है। कभी-कभी मायावादी हरे कृष्ण महामंत्र का जप करते भी पाये जाते हैं, यद्यपि उनका लक्ष्य ब्रह्म से तादात्म्य रहता है। कभी-कभी योगी भी हरे कृष्ण महामंत्र का जप करते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य भक्तों से भिन्न होता है। इन सभी विधियों में—चाहे वह कर्म हो, ज्ञान हो या योग—भक्ति आवश्यक है। यही इस श्लोक का सारांश है।

श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः ।

सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मात्मदः प्रियः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्रेयसाम्—शुभ कार्यो का; अपि—निश्चय ही; सर्वेषाम्—समस्त; आत्मा—आत्मा; हि—निश्चय ही; अवधिः—लक्ष्य; अर्थतः—वास्तव में; सर्वेषाम्—सभी; अपि—निश्चय ही; भूतानाम्—जीवों का; हरिः—भगवान्; आत्मा—परमात्मा; आत्म-दः—मूल पहचान प्रदान करने वाला; प्रियः—प्रिय।

यथार्थ रूप में भगवान् ही समस्त आत्म-साक्षात्कार के मूल स्रोत हैं। फलतः समस्त शुभ कार्यो—कर्म, ज्ञान, योग तथा भक्ति—का लक्ष्य भगवान् हैं।

तात्पर्य : जीवात्मा भगवान् की तटस्था शक्ति है और यह संसार बहिरंगा शक्ति है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य को यह समझना चाहिए कि भगवान् ही पदार्थ तथा आत्मा दोनों के मूल स्रोत हैं। इसकी व्याख्या भगवद्गीता (७.४-५) में की गई है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

“पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—ऐसी ये सारी आठ प्रकार की अलग-अलग मेरी अपरा सक्रियाँ हैं। किन्तु हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा (जड़) प्रकृति के अतिरिक्त मेरी एक जीवरूप परा (चेतन) प्रकृति भी है, जो उन सभी जीवों से बनी है, जो भौतिक शक्ति से संघर्ष करते रहते हैं और ब्रह्माण्ड को बनाये रखते हैं।”

यह समग्र दृश्य जगत पदार्थ तथा आत्मा के संयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आत्मा वाला अंश जीव है और ये जीव ही प्रकृति या शक्ति के रूप में वर्णित हैं। जीव को कभी भी पुरुष या परम पुरुष नहीं कहा जाता, अतः जीव को परमात्मा से एकाकार करना कोरी अविद्या है। जीव तो परमेश्वर की तटस्था शक्ति है यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान में वास्तव में कोई अन्तर नहीं होता। जीव का धर्म है कि वह अपने वास्तविक रूप को पहचाने। जब वह ऐसा करता है, तो कृष्ण उसे भक्ति पद प्राप्त करने की सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं। यही जीवन की पूर्णता है। यह वैदिक उपनिषदों में इंगित हुआ है—
यमेवैष वृणुते तेन लब्ध्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्। भगवान् श्रीकृष्ण भी भगवद्गीता (१०.१०) में इसकी पुष्टि करते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

“जो लोग मेरी सतत भक्ति तथा प्रेमपूर्वक पूजा करते हैं, उन्हें मैं ज्ञान प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझ तक आ सकते हैं।” निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को भक्तियोग पद तक पहुँचना चाहिए चाहे वह कर्मयोग, ज्ञानयोग या अष्टांग योग से शुभारम्भ क्यों न करे। जब तक भक्तियोग के पद को प्राप्त नहीं किया जाता, आत्म-साक्षात्कार या परम सत्य का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन

तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
 प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
 तथैव सर्वाह्णमच्युतेज्या ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; तरोः—वृक्ष की; मूल—जड़; निषेचनेन—सींचने से; तृप्यन्ति—संतुष्ट हो जाते हैं; तत्—इसके; स्कन्ध—तना; भुज—शाखाएँ; उपशाखाः—टहनियाँ; प्राण—प्राण वायु; उपहारात्—भोजन करने से; च—तथा; यथा—जिस तरह; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का; तथा एव—उसी तरह; सर्व—सभी देवताओं की; अह्णम्—पूजा; अच्युत—भगवान् की; इज्या—पूजा।

जिस तरह वृक्ष की जड़ को सींचने से तना, शाखाएँ तथा टहनियाँ पुष्ट होती हैं और जिस तरह पेट को भोजन देने से शरीर की इन्द्रियाँ तथा अंग प्राणवान् बनते हैं उसी प्रकार भक्ति द्वारा भगवान् की पूजा करने से भगवान् के ही अंग रूप सभी देवता स्वतः तुष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी लोग पूछते हैं कि यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन देवताओं को छोड़कर केवल श्रीकृष्ण की पूजा का समर्थन क्यों करता है? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया हुआ है। वृक्ष की जड़ को सींचने का उदाहरण अत्यन्त सटीक है। *भगवद्गीता* (१५.१) में कहा जाता है—*ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्*—यह दृश्य जगत नीचे की ओर विस्तृत है, इसका मूल भगवान् है। जैसाकि भगवान् स्वयं *भगवद्गीता* (१०.८) में पुष्टि करते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक संसारों का स्रोत हूँ। श्रीकृष्ण सभी वस्तुओं के मूल हैं, अतः कृष्णसेवा का अर्थ है सभी देवताओं की स्वतः सेवा हो जाना। कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि सफलता के लिए कर्म तथा ज्ञान में भक्ति के मिश्रण की और कभी-कभी भक्ति में कर्म तथा ज्ञान के मिश्रण की आवश्यकता पड़ती है। वास्तविकता यह है कि यद्यपि ज्ञान भक्ति के बिना कभी सफल नहीं हो सकते, भक्ति कर्म तथा ज्ञान की सहायता नहीं मांगती वास्तव में, जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*—शुद्ध भक्ति को कर्म तथा ज्ञान के स्पर्श से दूषित नहीं किया जाना चाहिए। आधुनिक समाज अनेक प्रकार के कल्याणकारी कार्यों, मानवतावादी कार्यों इत्यादि में व्यस्त है, किन्तु लोग यह नहीं समझते कि जब तक भगवान् कृष्ण को इन सारे कार्यों का केन्द्रबिन्दु नहीं बनाया जाता, ये कार्य कभी भी सफल नहीं हो सकते। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि कृष्ण तथा देवता रूपी उनके शरीर के विभिन्न अंगों की पूजा करने में क्या हानि है, तो इसका उत्तर भी इस श्लोक में प्राप्त है। बात यह है कि उदर को भोजन देने से इन्द्रियाँ स्वतः सन्तुष्ट हो जाती हैं। यदि कोई अपने नेत्रों या कानों को

अलग से भोजन दे, तो उसका परिणाम बुरा होगा। केवल उदर को भोजन देकर हम समस्त इन्द्रियों को तुष्ट कर देते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय की अलग-अलग सेवा कर पाना न तो आवश्यक है, न सम्भव ही है। निष्कर्ष यह है कि केवल कृष्णसेवा से सब कुछ पूरा हो जाता है। जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.६२) में पुष्टि की गई है—*कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय*—यदि मनुष्य भगवान् की भक्ति में लगा रहे तो अन्य सारे कार्य स्वतः सम्पन्न हो जाते हैं।

यथैव सूर्यात्प्रभवन्ति वारः

पुनश्च तस्मिन्प्रविशन्ति काले ।

भूतानि भूमौ स्थिरजङ्गमानि

तथा हरावेव गुणप्रवाहः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; एव—निश्चय ही; सूर्यात्—सूर्य से; प्रभवन्ति—उत्पन्न होता है; वारः—जल; पुनः—फिर से; च—तथा; तस्मिन्—उसमें; प्रविशन्ति—प्रवेश कर जाता है; काले—कालक्रम से; भूतानि—समस्त जीव; भूमौ—पृथ्वी पर; स्थिर—अचर; जङ्गमानि—तथा चर; तथा—उसी प्रकार; हरौ—भगवान् में; एव—निश्चय ही; गुण-प्रवाहः—भौतिक प्रकृति का उद्भव।

वर्षा काल में सूर्य से जल उत्पन्न होता है और कालक्रम में अर्थात् ग्रीष्मकाल में वही जल सूर्य द्वारा पुनः सोख लिया जाता है। इसी प्रकार समस्त चर तथा अचर जीव इस पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं और कुछ काल के पश्चात् वे पुनः पृथ्वी में धूल के रूप में मिल जाते हैं। इसी प्रकार से प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् से उद्भूत होती है और कालक्रम से पुनः उन्हीं में लीन हो जाती है।

तात्पर्य : अल्पज्ञान के कारण निर्विशेषवादी यह नहीं समझ पाते कि किस प्रकार कोई वस्तु भगवान् से निकल कर फिर उन्हीं में लीन हो जाती है। *ब्रह्म-संहिता* (५.४०) में पुष्टि हुई है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम् ।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

कृष्ण के शरीर से दिव्य किरणें निकलती हैं और इन्हीं किरणों में, जो ब्रह्मतेज है, सारी वस्तुएँ विद्यमान रहती हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.४) में हुई है—*मत्स्थानि सर्वभूतानि*। यद्यपि श्रीकृष्ण सर्वत्र साक्षात् उपस्थित नहीं रहते, किन्तु उनकी शक्ति ही समस्त सृष्टि का कारण है। सम्पूर्ण दृश्य जगत

श्रीकृष्ण की शक्ति के प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस श्लोक में दिये गये दोनों उदाहरण अत्यन्त ज्वलन्त हैं। वर्षाऋतु में वर्षा पृथ्वी पर वनस्पति को पुनः जीवित करके पशुओं तथा मनुष्यों को जीवनीशक्ति प्रदान करने में सहायक बनती है। जब वर्षा नहीं होती तो अन्न का अभाव हो जाता है और मनुष्य तथा पशु मरने लगते हैं। समस्त वनस्पतियाँ तथा सारे चर प्राणी मूलतः पृथ्वी की उपज हैं। वे पृथ्वी से ही प्रकट होकर उसी में पुनः मिल जाते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण शक्ति कृष्ण के शरीर से प्रकट होती है और उस समय सारा संसार दृष्टिगोचर होने लगता है। जब वे अपनी शक्ति को समेट लेते हैं, तो प्रत्येक वस्तु लुप्त हो जाती है। *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) में इसे भिन्न प्रकार से कहा गया है—

यस्यैक निश्चितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः ।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

सारी भौतिक सृष्टि भगवान् के शरीर से उद्भूत है और प्रलय के समय वह पुनः उन्हीं में प्रविष्ट हो जाती है। यह सृष्टि तथा प्रलय की प्रक्रिया महाविष्णु के श्वास लेने से संभव होती है, जो श्रीकृष्ण के ही एक अंशमात्र हैं।

एतत्पदं तज्जगदात्मनः परं

सकृद्विभातं सवितुर्यथा प्रभा ।

यथासवो जाग्रति सुप्तशक्तयो

द्रव्यक्रियाज्ञानभिदाभ्रमात्ययः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह दृश्य जगत; पदम्—निवास स्थान; तत्—वह; जगत्—आत्मनः—भगवान् का; परम्—दिव्य; सकृत्—कभी-कभी; विभातम्—प्रकट होने वाला; सवितुः—सूर्य का; यथा—जिस प्रकार; प्रभा—सूर्य प्रकाश; यथा—जिस प्रकार; असवः—इन्द्रियाँ; जाग्रति—प्रकट होती हैं; सुप्त—निष्क्रिय; शक्तयो—शक्तियाँ; द्रव्य—भौतिक तत्त्व; क्रिया—कर्म; ज्ञान—ज्ञान; भिदा-भ्रम—भ्रम से उत्पन्न अन्तर; अत्ययः—लुप्त हो जाते हैं।

जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश सूर्य से अभिन्न है, उसी प्रकार यह दृश्य जगत भी भगवान् से अभिन्न है। अतः भगवान् इस भौतिक सृष्टि के भीतर सर्वत्र व्याप्त हैं। जब इन्द्रियाँ चेतन रहती हैं, तो वे शरीर के अंगस्वरूप प्रतीत होती हैं, किन्तु जब शरीर सोया रहता है, तो सारी क्रियाएँ

अव्यक्त होती हैं। इसी प्रकार सारा दृश्य जगत भिन्न प्रतीत होने पर भी परम पुरुष से अभिन्न है।

तात्पर्य : इससे चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* के दर्शन की पुष्टि होती है। भगवान् एकसाथ इस दृश्य जगत से भिन्न तथा अभिन्न हैं। पिछले श्लोक में कहा गया है कि भगवान् वृक्ष की जड़ की तरह समस्त वस्तुओं के मूल कारण हैं। इसकी भी व्याख्या की जा चुकी है कि भगवान् किस प्रकार सर्वव्यापी हैं। वे इस भौतिक जगत की समस्त वस्तुओं के अन्दर स्थित हैं। चूँकि भगवान् की शक्ति उनसे अभिन्न है, अतः यह दृश्य जगत भिन्न प्रतीत होते हुए भी उनसे अभिन्न है। सूर्यप्रकाश (धूप) सूर्य से भिन्न नहीं है, किन्तु साथ ही उससे भिन्न भी है। धूप में रहते हुए भी कोई सूर्य में नहीं रहता। जो लोग इस संसार में रह रहे हैं, वे भगवान् के शरीर की किरणों में रहते हैं, किन्तु वे उन्हें सशरीर नहीं देख पाते।

इस श्लोक का *पदम्* शब्द भगवान् के निवासस्थान का सूचक है। इसकी पुष्टि *ईशोपनिषद्* में *ईशावास्यमिदं सर्वम्* में हुई है। भले ही मकान मालिक मकान के एक कमरे में रह रहा हो, किन्तु सारा मकान उसी का होता है। भले ही राजा बकिंघम महल के एक कमरे में रहे, किन्तु सारा महल उसकी सम्पत्ति होता है। उसे उस महल को अपना बताने के लिए महल के प्रत्येक कमरे में रहना आवश्यक नहीं है। वह सभी कमरों में भले ही स्वयं उपस्थित न रहे, किन्तु फिर भी सारा महल उसकी राजसी सम्पत्ति समझा जाता है।

सूर्यप्रकाश प्रकाश है, सूर्यगोलक स्वयं प्रकाश है और सूर्यदेव भी प्रकाश ही है। किन्तु सूर्य का प्रकाश और सूर्यदेव विवस्वान् एकरूप नहीं हैं। एकसाथ एक और भिन्न होने का यही अर्थ है (*अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व*)। सभी ग्रह सूर्यप्रकाश पर निर्भर हैं और सूर्य के ताप से वे अपनी कक्षाओं में घूमते हैं। सभी ग्रहों में सारे वृक्ष तथा पौधे सूर्यप्रकाश से ही बढ़ते और रंग बदलते रहते हैं। सूर्य की किरणों होने के कारण वे सूर्य प्रकाश से अभिन्न हैं। इसी प्रकार सारे ग्रह जो सूर्यप्रकाश पर निर्भर करते हैं, सूर्य से अभिन्न हैं। यह सारा संसार सूर्य पर पूर्णतया निर्भर है, क्योंकि यह सूर्य से ही उत्पन्न है और इसके सारे फलों में सूर्य निहित है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं और सारे परिणाम उसी मूल कारण से व्याप्त हैं। समस्त दृश्य जगत को परमेश्वर की विस्तृत शक्ति समझना होगा।

जब मनुष्य सोता है, तो उसकी इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि

इन्द्रियाँ अनुपस्थित रहती हैं। जगने पर इन्द्रियाँ पुनः सक्रिय हो जाती हैं। इसी प्रकार यह दृश्य जगत कभी प्रकट होता है, तो कभी अप्रकट, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है— *भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।* जब दृश्य जगत का लय हो जाता है, तो यह एक प्रकार की निद्रावस्था या निष्क्रिय अवस्था में रहता है। दृश्य जगत चाहे सक्रिय हो या निष्क्रिय, परमेश्वर की शक्ति सदैव विद्यमान रहती है। इस तरह “प्रकट” तथा “अप्रकट” शब्द केवल भौतिक जगत के लिए व्यवहृत हैं।

यथा नभस्यभ्रतमःप्रकाशा

भवन्ति भूपा न भवन्त्यनुक्रमात् ।

एवं परे ब्रह्मणि शक्तयस्त्वमू

रजस्तमः सत्त्वमिति प्रवाहः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; नभसि—आकाश में; अभ्र—बादल; तमः—अंधकार; प्रकाशाः—तथा प्रकाश; भवन्ति—विद्यमान रहते हैं; भू-पाः—हे राजाओं; न भवन्ति—प्रकट नहीं होते; अनुक्रमात्—क्रम से; एवम्—इस प्रकार; परे—परम; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; शक्तयः—शक्तियाँ; तु—तब; अमूः—वे; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; सत्त्वम्—सतोगुण; इति—इस प्रकार; प्रवाहः—प्राकट्य, प्रवाह।

हे राजाओ, आकाश में कभी बादल, कभी अंधकार और कभी प्रकाश रहता है। इनका प्राकट्य एक क्रम से होता रहता है। इसी तरह सतो, रजो तथा तमोगुण परब्रह्म में क्रमशः शक्ति रूप में प्रकट होते हैं। कभी वे प्रकट होते हैं, तो कभी लुप्त होते हैं।

तात्पर्य : अंधकार, प्रकाश तथा बादल कभी प्रकट होते हैं, तो कभी छिप जाते हैं, किन्तु उनके छिप जाने पर भी उनकी शक्ति बनी रहती है। आकाश में हमें कभी बादल दिखते हैं, तो कभी वर्षा और कभी हिमपात। कभी हम रात देखते हैं, तो कभी दिन और कभी प्रकाश देखते हैं, तो कभी अंधकार। इन सबका अस्तित्व सूर्य के कारण है, किन्तु सूर्य पर इन परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् समग्र दृश्य जगत के मूल कारण हैं, किन्तु उन पर भौतिक संसार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.४) में हुई है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

“भूमि, जल, अग्नि, वायु, शून्य, मन, बुद्धि तथा अहंकार—ये आठ मिलकर मेरी भिन्न भौतिक शक्तियों का निर्माण करते हैं।”

यद्यपि भौतिक तत्त्व भगवान् की शक्ति हैं, किन्तु वे पृथक्-पृथक् हैं। अतः भगवान् पर भौतिक दशाओं का प्रभाव नहीं पड़ता। वेदान्त-सूत्र पुष्टि करता है—*जन्माद्यस्य यतः*—इस संसार की सृष्टि, पालन तथा संहार परमेश्वर के अस्तित्व के कारण है। फिर भी भौतिक तंत्रों में परिवर्तनों का भगवान् पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका संकेत *प्रवाह* शब्द से मिलता है। सूर्य सदैव तेजी से चमकता है, वह बादलों या अंधकार से प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार भगवान् सदैव अपनी आध्यात्मिक शक्ति में उपस्थित रहते हैं और भौतिक प्रसर्जन से प्रभावित नहीं होते। *ब्रह्म-संहिता* (५.१) पुष्टि करती हैं—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

“श्रीकृष्ण जिन्हें गोविन्द कहा जाता है भगवान् हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक होता है। वे सबों के मूल स्रोत हैं। उनका अन्य स्रोत नहीं है और वे समस्त कारणों के कारण हैं।” यद्यपि वे समस्त कारणों के कारण हैं, तो भी वे परम (दिव्य) हैं और उनका रूप सच्चिदानन्द है। कृष्ण सभी वस्तुओं के आश्रय हैं और यही समस्त शास्त्रों का अभिमत है। इस दृश्य जगत का दूरस्थ कारण कृष्ण तथा निकटस्थ कारण प्रकृति है। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि प्रकृति को प्रत्येक वस्तु का कारण मानना वैसे ही है जैसे बकरी के गलस्तन को दूध का कारण मानना। यद्यपि भौतिक प्रकृति इस दृश्य जगत का निकटस्थ कारण है, किन्तु मूल कारण तो नारायण अथवा कृष्ण हैं। कुछ लोग मिट्टी के पात्र का कारण मिट्टी को मानते हैं। हम कुम्हार के चाक में प्रचुर मिट्टी देखते हैं जिससे अनेक पात्र बनाये जाने हैं और यद्यपि अल्पज्ञानी व्यक्ति कहेंगे कि पात्र का कारण चाक के ऊपर रखी मिट्टी है, किन्तु जो ज्ञान में बड़े-चढ़े हैं, वे कुम्हार को आदि कारण मानते हैं, क्योंकि वही मिट्टी लाता है और चाक चलाता है। भले ही इस दृश्य जगत की उत्पत्ति में भौतिक प्रकृति सहायक कारक के रूप में हो, किन्तु वह परम कारण नहीं है। इसीलिए *भगवद्गीता* (९.१०) में भगवान् कहते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—“हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है और समस्त चल तथा अचल प्राणियों को उत्पन्न करती है।”

परमेश्वर भौतिक शक्ति पर अपनी दृष्टि डालते हैं और इस चितवन से प्रकृति के तीनों गुण उद्घेलित होते हैं। फिर सृष्टि उत्पन्न होती है। निष्कर्ष यह हुआ कि प्रकृति इस भौतिक जगत का कारण नहीं है।

परमेश्वर ही समस्त कारणों के कारण हैं।

तेनैकमात्मानमशेषदेहिनां

कालं प्रधानं पुरुषं परेशम् ।

स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहम्

आत्मैकभावेन भजध्वमद्धा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तेन—अतः; एकम्—एक; आत्मानम्—परमात्मा को; अशेष—अनन्त; देहिनाम्—जीवों का; कालम्—काल, समय; प्रधानम्—भौतिक कारण; पुरुषम्—परम पुरुष; पर-ईशम्—दिव्य नियन्ता; स्व-तेजसा—अपनी आध्यात्मिक शक्ति से; ध्वस्त—विलग; गुण-प्रवाहम्—भौतिक प्रवाह से; आत्म—आत्मा; एक-भावेन—एक के रूप में स्वीकार करने से; भजध्वम्—भक्ति में लगे; अद्धा—प्रत्यक्ष।

चूँकि परमेश्वर समस्त कारणों के कारण हैं, अतः वे समस्त जीवों के परमात्मा हैं और वे निकटवर्ती तथा सुदूर कारण हैं। चूँकि वे भौतिक प्रसर्जनों से विलग हैं, अतः वे उनकी अन्योन्य क्रियाओं से मुक्त हैं और प्रकृति के स्वामी हैं। अतः तुम्हें उनसे गुणात्मक रूप से अपने आपको अभिन्न मानते हुए उनकी सेवा करनी चाहिए।

तात्पर्य : वैदिक परिगणनाओं के अनुसार सृष्टि के तीन कारण हैं—काल, अवयव तथा सृष्टिकर्ता। ये तीनों मिलकर *त्रितयात्मक* अर्थात् तीन कारण कहलाते हैं। इन्हीं तीन कारणों से इस संसार की सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। ये समस्त कारण भगवान् में पाये जाते हैं जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है—*सर्वकारणकारणम्*। इसीलिए नारद मुनि प्रचेताओं को प्रत्यक्ष कारण भगवान् की पूजा करने का उपदेश देते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, वृक्ष की जड़ सींचने से वृक्ष के सारे अंग अनुप्राणित हो उठते हैं। नारद मुनि के उपदेशानुसार मनुष्य को सीधे भक्ति में लगना चाहिए। इसीमें सारा पुण्यकर्म आ जाता है। *चैतन्य-चरितामृत* का कथन है—*कृष्णे भक्ति कैले सर्व कर्मकृत हय*—जब कोई भक्ति में परमेश्वर श्रीकृष्ण की पूजा करता है, तो वह स्वतः अन्य सारे पुण्यकर्म करता है। इस श्लोक में *स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहम्* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् कभी भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते, यद्यपि वे सब भगवान् की ही आध्यात्मिक शक्ति से निःसृत होते हैं। जो लोग वास्तव में इस ज्ञान में निष्णात हैं, वे प्रत्येक वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा के लिए कर सकते हैं, क्योंकि इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका सम्बन्ध भगवान् से न हो।

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा ।

सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दयया—दया दिखाने से; सर्व-भूतेषु—समस्त जीवों पर; सन्तुष्ट्या—सन्तुष्ट होने से; येन केन वा—किसी न किसी तरह; सर्व-इन्द्रिय—समस्त इन्द्रियाँ; उपशान्त्या—वश में करके; च—भी; तुष्यति—सन्तुष्ट होता है; आशु—तुरन्त; जनार्दनः—समस्त जीवों का स्वामी ।

समस्त जीवों पर दया करने से, येन-केन प्रकार से सन्तुष्ट रहने से तथा इन्द्रियों को वश में करने से मनुष्य भगवान् जनार्दन को बहुत शीघ्र संतुष्ट कर सकता है ।

तात्पर्य : ये कुछ विधियाँ हैं जिनके द्वारा भक्त भगवान् को संतुष्ट कर सकता है । इनमें सबसे पहली है दयया सर्वभूतेषु अर्थात् समस्त बद्धजीवों पर दया दिखाना । दया दिखाने की सर्वोत्तम विधि है कृष्णभक्ति को फैलाना । सम्पूर्ण संसार इस ज्ञान के अभाव से पीड़ित है । लोगों को जानना चाहिए कि भगवान् ही सभी वस्तुओं का मूल कारण है । ऐसा समझ कर प्रत्येक व्यक्ति को भगवद्भक्ति में लग जाना चाहिए । जो लोग वास्तव में विद्वान् हैं और आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति कर चुके हैं उन्हें संसार-भर में कृष्णभक्ति का उपदेश करना चाहिए जिससे लोग उसे ग्रहण करके अपने जीवन को सफल बना सकें ।

सर्वभूतेषु शब्द सार्थक है क्योंकि यह न केवल मनुष्यों के लिए वरन् चौरासी लाख योनियों में प्रकट होने वाले समस्त जीवों के लिए आया है । भक्त न केवल मानवजाति को लाभ पहुँचा सकता है, अपितु समस्त जीवों को भी । प्रत्येक व्यक्ति हरे कृष्ण महामंत्र के जप से आध्यात्मिक लाभ उठा सकता है । जब हरे कृष्ण की दिव्य ध्वनि का उच्चारण किया जाता है, तो पौधे-पशु तथा कीड़े तक लाभान्वित होते हैं । इस प्रकार हरे कृष्ण महामंत्र का उच्चस्वर से कीर्तन करके मनुष्य समस्त जीवों पर दया करता है । संसार-भर में कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को फैलाने के लिए भक्तों को सभी परिस्थितियों में प्रसन्न रहना चाहिए ।

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥

(भागवत ६.१७.२८)

भक्त को उपदेश कार्य के लिए यदि नरक में भी जाना पड़े, तो उसे परवाह नहीं रहती । यद्यपि भगवान् वैकुण्ठ में हैं, किन्तु वे एक सुअर के शरीर में भी वास करते हैं । नरक में उपदेश करते हुए भी

शुद्ध भक्त शुद्ध बना रहता है, क्योंकि वह निरन्तर भगवान् की संगति में रहता है। इस दशा को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपनी इन्द्रियाँ वश में रखनी होती हैं। जब उसका मन भगवद्भक्ति में रत होता है, तो इन्द्रियाँ स्वतः वश में हो जाती हैं।

अपहतसकलैषणामलात्म-

न्यविरतमेधितभावनोपहृतः ।

निजजनवशगत्वमात्मनोऽय-

न्न सरति छिद्रवदक्षरः सतां हि ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अपहत—परास्त हुई; सकल—सभी; एषण—इच्छाएँ; अमल—निष्कलंक; आत्मनि—मन को; अविरतम्—निरन्तर; एधित—बढ़ते हुए; भावना—भव से; उपहृतः—बुलाया जाकर; निज-जन—अपने भक्तों के; वश—नियंत्रण में; गत्वम्—जाते हुए; आत्मनः—अपने; अयन्—जानते हुए; न—कभी नहीं; सरति—दूर चला जाता है; छिद्र-वत्—आकाश की तरह; अक्षरः—भगवान्; सताम्—भक्तों को; हि—निश्चय ही।

समस्त इच्छाओं के दूर हो जाने से भक्तगण समस्त मानसिक विकारों (कल्मष) से मुक्त हो जाते हैं। इस तरह वे भगवान् का निरन्तर चिन्तन कर सकते हैं और उनको भावपूर्वक सम्बोधन कर सकते हैं। भगवान् अपने को अपने भक्तों के वश में जानते हुए उन्हें क्षण भर के लिए भी नहीं छोड़ते, जिस प्रकार सिर के ऊपर का आकाश कभी अदृश्य नहीं होता।

तात्पर्य : पिछले श्लोक से प्रकट है कि भगवान् जनार्दन अपने भक्तों के कार्यों से तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं। शुद्ध भक्त सदैव भगवान् के विचार में मग्न रहता है। जैसा कहा गया—*शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः ।* निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करते रहने से शुद्ध भक्त का हृदय समस्त प्रकार की इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। इस संसार में जीव का हृदय भौतिक इच्छाओं से पूर्ण रहता है। किन्तु जब जीव शुद्ध हो जाता है, तो वह किसी भौतिक वस्तु के विषय में नहीं सोचता। मन के शुद्ध हो जाने पर उसे योगसिद्धि प्राप्त हो जाती है, क्योंकि योगी को अपने अन्तःकरण में सदैव भगवान् के दर्शन होते रहते हैं (*ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः*)। ज्योंही भगवान् भक्त के हृदय में वास करने लगते हैं, भक्त प्रकृति के गुणों से दूषित नहीं होता। जब तक वह इन गुणों के वश में रहता है, वह अनेक वस्तुओं की इच्छा करता है और इन्द्रियसुख के लिए अनेक योजनाएँ बनाता है, किन्तु हृदय में भगवान् के दर्शन होते ही सारी भौतिक इच्छाएँ भाग जाती हैं। मन भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने पर भगवान् का निरन्तर चिन्तन कर सकता है और वह भगवान् के चरणकमलों पर पूरी तरह से आश्रित हो जाता

है। चैतन्य महाप्रभु प्रार्थना करते हैं—

अयि नन्द तनुजकिङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पादपङ्कजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय ॥

“हे भगवान्! मैं आपका शाश्वत दास हूँ, किन्तु न जाने कैसे इस भवसागर में गिर गया हूँ। कृपया मुझे निकालकर अपने चरणकमलों की धूलि में लगा लीजिए।” (शिक्षाष्टक ५) इसी प्रकार नरोत्तम दास ठाकुर प्रार्थना करते हैं—

हा हा प्रभु नन्दसुत, वृषभानुसुतायुत,

करुण करह एइ-बार।

नरोत्तमदास कय, न ठेलिह राज्ञा-पाय,

तोमा विने के आछे आमार ॥

“हे भगवान्, अब आप राजा वृषभानु की पुत्री श्रीमती राधारानी समेत उपस्थित हैं। अब आप दोनों मेरे ऊपर कृपालु हों। मुझे दूर न भगाएँ क्योंकि आपके अतिरिक्त मेरा अन्य कोई आश्रय नहीं है।”

इस प्रकार भगवान् अपने भक्तों पर आश्रित हो जाते हैं। यद्यपि भगवान् अजेय हैं, किन्तु अपने भक्तों द्वारा जीत लिये जाते हैं। वे अपने भक्त पर आश्रित होकर उसी प्रकार प्रसन्नता का अनुभव करते हैं जिस प्रकार श्रीकृष्ण माता यशोदा की कृपा पर आश्रित रह कर करते थे। वे अपने को भक्तों के वश में सोचकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। राजा कभी-कभी विदूषक रख लेता है और परिहास में कभी-कभी राजा का अपमान भी हो जाता है, किन्तु तो भी राजा इन कार्यों से आनन्दित होता है। प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त सम्मानपूर्वक भगवान् की पूजा करता है, अतः कभी-कभी भगवान् अपने भक्तों की प्रताड़ना का भी आनन्द लेना चाहते हैं। इस प्रकार भगवान् तथा उनके भक्तों का शाश्वत सम्बन्ध स्थिर हो जाता है, जिस प्रकार सिर के ऊपर का आकाश।

न भजति कुमनीषिणां स इज्यां

हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः ।

श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये

विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; भजति—स्वीकार करता है; कु-मनीषिणाम्—मलिन हृदय वाले पुरुषों का; सः—वह; इज्याम्—अर्पित; हरिः—भगवान्; अधन—निर्धन; आत्म-धन—केवल भगवान् पर आश्रित रहने वाले; प्रियः—प्रिय; रस-ज्ञः—जीवन के रस को स्वीकार करने वाला, रसिक; श्रुत—शिक्षा; धन—सम्पत्ति; कुल—वंश; कर्मणाम्—तथा कर्मों का; मदैः—गर्व से; ये—जो; विदधति—सम्पन्न करता है; पापम्—तिरस्कार; अकिञ्चनेषु—निर्धन; सत्सु—भक्तों का।

भगवान् उन भक्तों को अत्यन्त प्रिय होते हैं जिनके पास कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं है, किन्तु जो भगवद्भक्ति को ही अपना धन मानकर प्रसन्न रहते हैं। दरअसल, भगवान् ऐसे भक्तों के भक्ति-कार्यों का आनन्द लेते हैं। जो लोग अपनी शिक्षा, सम्पत्ति, कुलीनता और सकाम कर्म इत्यादि भौतिक वस्तुओं के मद से फूले रहते हैं, वे कभी-कभी भक्तों का उपहास करते हैं। ऐसे लोग यदि भगवान् की पूजा करते भी हैं, तो वे उसे कभी स्वीकार नहीं करते।

तात्पर्य : भगवान् अपने शुद्ध भक्तों पर आश्रित हैं। वे अभक्तों की भेंटें तक स्वीकार नहीं करते। शुद्ध भक्त वह है, जो अनुभव करता है कि उसके पास कोई भौतिक वस्तु नहीं है। भक्त सदैव भगवान् के भक्ति रूपी धन से प्रसन्न रहता है। भक्त कभी कभी भौतिक दृष्टि से निर्धन प्रतीत होते हैं, किन्तु आध्यात्मिक रूप से उन्नत तथा सम्पन्न होने के कारण भगवान् को अत्यन्त प्रिय होते हैं। ऐसे भक्त परिवार, समाज, मित्रता, सन्तान इत्यादि के प्रति आसक्ति से मुक्त होते हैं। वे इन समस्त भौतिक वस्तुओं के प्रेम को त्याग कर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर सदैव प्रसन्न रहते हैं। भगवान् भी अपने भक्त की स्थिति को समझते हैं। यदि कोई शुद्ध भक्त का उपहास करता है, तो वह भगवान् द्वारा कभी अपनाया नहीं जाता। दूसरे शब्दों में, यदि कोई शुद्ध भक्त का अपमान करता है, तो भगवान् उसे क्षमा नहीं करते। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। महान् योगी दुर्वासा मुनि ने परम भक्त अम्बरीष महाराज का अपमान किया था। भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से दुर्वासा को दण्ड दिया। यद्यपि वह परम योगी सीधा भगवान् के पास गया, किन्तु उसे क्षमा नहीं मिली। जो लोग मोक्ष के पथ पर हैं उन्हें सावधान रहना चाहिए कि शुद्ध भक्त का कभी अपमान न करें।

श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च

द्विपदपतीन्विबुधांश्च यत्स्वपूर्णः ।

न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः

कथममुमुद्विसृजेत्युमान्कृतज्ञः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्रियम्—लक्ष्मी जी को; अनुचरतीम्—अनुसरण करने वाली; तत्—उसका; अर्थिनः—कृपाकांक्षी; च—तथा; द्विपद-पतीन्—मनुष्यों के स्वामी को; विबुधान्—देवताओं को; च—भी; यत्—क्योंकि; स्व-पूर्णः—आत्मनिर्भर; न—कभी नहीं; भजति—परवाह करता है; निज—अपना; भृत्य-वर्ग—भक्तों पर; तन्नः—आश्रित; कथम्—कैसे; अमुम्—उसको; उद्विसृजेत्—छोड़ सकता है; पुमान्—व्यक्ति; कृत-ज्ञः—आभारी, कृतज्ञ।

यद्यपि श्रीभगवान् आत्मनिर्भर हैं, किन्तु वे भक्तों पर आश्रित हो जाते हैं। वे न तो लक्ष्मी जी की परवाह करते हैं और न उन राजाओं तथा देवताओं की जो लक्ष्मी जी के कृपाभाजन बनना चाहते हैं। ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो वास्तव में कृतज्ञ होते हुए भगवान् की पूजा न करे?

तात्पर्य : ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी की पूजा सभी भौतिकतावादी व्यक्ति करते हैं, जिनमें बड़े बड़े राजा-महाराजा तथा स्वर्ग के देवता भी सम्मिलित हैं। किन्तु लक्ष्मी जी सदैव भगवान् के पीछे-पीछे लगी रहती हैं, यद्यपि भगवान् को उनकी सेवा की आवश्यकता नहीं रहती। ब्रह्म-संहिता का कथन है कि भगवान् की पूजा हजारों लक्ष्मियाँ करती हैं, किन्तु भगवान् को उनकी सेवा की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि यदि उनकी इच्छा हो तो वे अपनी ह्लादिनी शक्ति से लाखों लक्ष्मियाँ उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु वही भगवान् अहैतुकी कृपावश अपने भक्तों के आश्रित बन जाते हैं। तो वह भक्त कितना भाग्यशाली है, जिस पर भगवान् की ऐसी कृपा हो? ऐसा कौन कृतघ्न भक्त होगा जो भगवान् की पूजा और भक्ति नहीं करने लगेगा? वास्तव में भक्त क्षण भर के लिए भी भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता को भूल नहीं सकता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि भगवान् तथा उनका भक्त दोनों ही रसज्ञ होते हैं। भगवान् तथा भक्त के पारस्परिक सम्बन्ध को कभी भी भौतिक नहीं समझना चाहिए। यह दिव्य होता है। दिव्य अनुभूतियाँ (भाव, अनुभाव, स्थायी भाव इत्यादि) आठ प्रकार की हैं जिनकी व्याख्या भक्तिरसामृतसिंधु पुस्तक में की गई है। जो लोग कृष्ण भगवान् तथा जीव की स्थिति से अनजान हैं, वे भक्त तथा भगवान् की पारस्परिक आसक्ति को भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न मानते हैं। वास्तव में यह आसक्ति भगवान् और उनके भक्त दोनों के लिए प्राकृतिक है, इसे भौतिक नहीं माना जा सकता।

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतसो राजन्नन्याश्च भगवत्कथाः ।

श्रावयित्वा ब्रह्मलोकं ययौ स्वायम्भुवो मुनिः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; प्रचेतसः—प्रचेतागण; राजन्—हे राजन्; अन्याः—अन्य लोग; च—भी; भगवत्—कथाः—भगवान् विषयक कथाएँ; श्रावयित्वा—निर्देश देकर; ब्रह्म-लोकम्—ब्रह्मलोक को; ययौ—चला गया; स्वायम्भुवः—ब्रह्मा का पुत्र; मुनिः—परम साधु।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, इस प्रकार ब्रह्मा के पुत्र नारद मुनि ने प्रचेताओं से भगवान् के साथ इन सम्बन्धों का वर्णन किया। तत्पश्चात् वे ब्रह्मलोक को चले गये।

तात्पर्य : मनुष्य को भगवान् के विषय में शुद्ध भक्त से सुनना होता है। प्रचेताओं को यह अवसर महर्षि नारद से प्राप्त हुआ जिन्होंने भगवान् तथा उनके भक्तों के कार्यों का उनसे वर्णन किया।

तेऽपि तन्मुखनिर्यातं यशो लोकमलापहम् ।
हरेर्निशम्य तत्पादं ध्यायन्तस्तद्गतिं ययुः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ते—प्रचेतागण; अपि—भी; तत्—नारद के; मुख—मुख से; निर्यातम्—निकला; यशः—महिमागान; लोक—संसार का; मल—पाप; अपहम्—नष्ट करते हुए; हरेः—हरि का; निशम्य—सुनकर; तत्—भगवान् के; पादम्—पाँव; ध्यायन्तः—ध्यान करते हुए; तत्—गतिम्—उनके धाम को; ययुः—चले गये।

नारद के मुख से संसार के समस्त दुर्भाग्य को दूर करने वाली भगवान् की महिमा को सुन कर प्रचेता गण भी भगवान् के प्रति आसक्त हो उठे। वे भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करते हुए चरम गन्तव्य को चले गये।

तात्पर्य : यहाँ यह देखा गया है कि एक स्वरूपसिद्ध भक्त के मुख से भगवान् की महिमा सुनकर प्रचेताओं ने सरलता से भगवान् के प्रति प्रबल आसक्ति प्राप्त कर ली। फिर अपने जीवन के अन्त में भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करते हुए वे परम धाम, विष्णुलोक को चले गये। यह निश्चित है कि जो कोई भगवान् की महिमा का श्रवण करता है और उनके चरणकमलों का चिन्तन करता है, वह उस परम धाम को प्राप्त करेगा। भगवद्गीता (१८.६५) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

“सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो। मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें यह वचन देता हूँ क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हो।”

एतत्तेऽभिहितं क्षत्तर्यन्मां त्वं परिपृष्टवान् ।
प्रचेतसां नारदस्य संवादं हरिकीर्तनम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुमसे; अभिहितम्—कहा गया; क्षत्तः—हे विदुर; यत्—जो भी; माम्—मुझसे; त्वम्—तुमने; परिपृष्टवान्—पूछा; प्रचेतसाम्—प्रचेताओं की; नारदस्य—नारद की; संवादम्—वार्ता; हरि-कीर्तनम्—भगवान् की महिमा का वर्णन करते हुए।

हे विदुर, मैंने तुम्हें वह सब कुछ सुना दिया है, जो तुम नारद तथा प्रचेताओं के भगवत्कथा सम्बन्धी वार्तालाप के विषय में जानना चाह रहे थे। जहाँ तक सम्भव था मैंने तुम्हें बता दिया है।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत में भगवान् तथा भक्तों की महिमा का वर्णन है। चूँकि समग्र विषय ही भगवान् की महिमा है, अतः उसमें उनके भक्तों की महिमा स्वतः आ जाती है।

श्रीशुक उवाच

य एष उत्तानपदो मानवस्यानुवर्णितः ।
वंशः प्रियव्रतस्यापि निबोध नृपसत्तम ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; यः—जो; एषः—इस वंश; उत्तानपदः—राजा उत्तानपाद का; मानवस्य—स्वयंभुव मनु का पुत्र; अनुवर्णितः—पूर्व आचार्यों के पदचिह्नों पर चलते हुए वर्णित; वंशः—वंश, कुल; प्रियव्रतस्य—राजा प्रियव्रत का; अपि—भी; निबोध—समझने का प्रयास करो; नृप-सत्तम—हे राजाओं में श्रेष्ठ।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : हे श्रेष्ठ राजन् (राजा परीक्षित), यहाँ तक मैंने स्वायम्भुव मनु के प्रथम पुत्र उत्तानपाद के वंश का वर्णन किया है। अब मैं स्वायंभुव मनु के द्वितीय पुत्र प्रियव्रत के वंशजों के कार्यकलापों का वर्णन करने का प्रयास करूँगा। कृपया ध्यानपूर्वक सुनें।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज राजा उत्तानपाद के पुत्र थे और जहाँ तक ध्रुव महाराज या राजा उत्तानपाद के वंशजों का सम्बन्ध है उनके कार्यकलापों का वर्णन प्रचेताओं तक किया जा चुका है। अब श्रीशुकदेव गोस्वामी स्वायंभुव मनु के द्वितीय पुत्र महाराज प्रियव्रत के वंशजों का वर्णन करना चाहते हैं।

यो नारदादात्मविद्यामधिगम्य पुनर्महीम् ।
भुक्त्वा विभज्य पुत्रेभ्य ऐश्वरं समगात्पदम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; नारदात्—नारद मुनि से; आत्म-विद्याम्—आध्यात्मिक ज्ञान को; अधिगम्य—सीख कर; पुनः—फिर; महीम्—पृथ्वी को; भुक्त्वा—भोग कर; विभज्य—बाँट कर; पुत्रेभ्यः—पुत्रों को; ऐश्वर्यम्—दिव्य; समगात्—प्राप्त किया; पदम्—पद को।

यद्यपि महाराज प्रियव्रत ने नारद मुनि से उपदेश प्राप्त किया था, तो भी वे पृथ्वी पर राज्य करने में संलग्न हुए। भौतिक सम्पत्ति का पूर्ण भोग कर चुकने के बाद उन्होंने उसे अपने पुत्रों में बाँट दिया। तब उन्हें वह पद प्राप्त हुआ जिससे वे भगवद्धाम को लौट सके।

इमां तु कौषारविणोपवर्णितां
क्षत्ता निशम्याजितवादसत्कथाम् ।
प्रवृद्धभावोऽश्रुकलाकुलो मुने-
र्दधार मूर्ध्ना चरणं हृदा हरेः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इमाम्—यह सब; तु—तब; कौषारविणा—मैत्रेय द्वारा; उपवर्णिताम्—वर्णित; क्षत्ता—विदुर; निशम्य—सुनकर; अजित-वाद—भगवान् की महिमा का वर्णन; सत्-कथाम्—दिव्य कथा; प्रवृद्ध—बढ़ी हुई; भावः—हर्षातिरेक; अश्रु—आँसुओं के; कला—बिन्दुओं से; आकुलः—विभोर; मुनेः—मुनि का; दधार—पकड़ लिया; मूर्ध्ना—सिर से; चरणम्—चरणकमल; हृदा—हृदय से; हरेः—भगवान् के।

हे राजन्, इस प्रकार मैत्रेय मुनि से भगवान् तथा उनके भक्तों की दिव्य कथाएँ सुनकर विदुर भावविभोर हो उठे। आँखों में आँसू भर कर वे तुरन्त अपने गुरु के चरणकमलों पर गिर पड़े। तब उन्होंने अपने अन्तःकरण में भगवान् को स्थिर कर लिया।

तात्पर्य : यह महान् भक्तों की संगति का लक्षण है। भक्त किसी मुक्तात्मा से आदेश ग्रहण करता है और दिव्य आनन्द में विभोर हो जाता है। जैसाकि प्रह्लाद महाराज कहते हैं (भागवत ७.५.३२)—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रि
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥

महान् भक्त के चरणकमलों का स्पर्श किये बिना कोई पूर्ण भक्त नहीं बन सकता। जिसको इस भौतिक जगत से कुछ लेना-देना नहीं रहता, वह निष्किञ्चन कहलाता है। आत्म-साक्षात्कार तथा भगवद्धाम वापस जाने का अर्थ है प्रमाणित गुरु की शरण में जाना और अपने सिर पर उनकी चरणरज को धारण करना। इस प्रकार मनुष्य दिव्य साक्षात्कार के पथ पर आगे बढ़ जाता है। विदुर का मैत्रेय से ऐसा ही सम्बन्ध था, फलतः उसे वांछित फल मिला।

विदुर उवाच

सोऽयमद्य महायोगिन्भवता करुणात्मना ।

दर्शितस्तमसः पारो यत्राकिञ्चनगो हरिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; सः—वह; अयम्—यह; अद्य—आज; महा-योगिन्—हे महान् योगी; भवता—आपके द्वारा; करुण-आत्मना—अत्यन्त करुणामय; दर्शितः—मुझे दिखाया गया है; तमसः—अंधकार का; पारः—दूसरा छोर; यत्र—जहाँ; अकिञ्चन-गः—भौतिक रूप से मुक्त व्यक्ति के द्वारा पहुँचने योग्य; हरिः—भगवान्।

श्रीविदुर ने कहा : हे परम योगी, हे भक्तों में महान्, आपने अहैतुकी कृपा से मुझे इस अंधकार रूपी संसार से मोक्ष का पथ प्रदर्शित किया है। इस भौतिक संसार से मुक्त पुरुष इस पथ पर चल कर इस संसार से भगवान् के धाम को वापस जा सकता है।

तात्पर्य : यह भौतिक संसार तमः या अंधकार कहलाता है और आध्यात्मिक जगत प्रकाश कहलाता है। वेदों का आदेश है कि प्रत्येक व्यक्ति को अंधकार से निकल कर प्रकाश के साम्राज्य में जाने का प्रयास करना चाहिए। उस प्रकाश के साम्राज्य की जानकारी स्वरूपसिद्ध व्यक्ति की कृपा से प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य को भौतिक इच्छाओं का परित्याग भी करना होता है। इन इच्छाओं से छुटकारा पाते ही तथा मुक्त पुरुष की संगति पाने से भगवद्धाम जाने का मार्ग साफ हो जाता है।

श्रीशुक उवाच

इत्यानम्य तमामन्य विदुरो गजसाह्वयम् ।

स्वानां दिदक्षुः प्रययौ ज्ञातीनां निर्वृताशयः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आनम्य—नमस्कार करके; तम्—मैत्रेय को; आमन्य—अनुमति लेकर; विदुरः—विदुर; गज-साह्वयम्—हस्तिनापुर नगरी को; स्वानाम्—अपनी; दिदक्षुः—देखने के लिए इच्छुक; प्रययौ—वहाँ से चला गया; ज्ञातीनाम्—अपने परिजनों का; निर्वृत-आशयः—भौतिक इच्छाओं से मुक्त।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार मैत्रेय मुनि को नमस्कार करके और उनसे अनुमति लेकर भौतिक इच्छाओं से रहित विदुर ने अपने परिजनों से मिलने के लिए हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया।

तात्पर्य : जब सन्त पुरुष अपने परिजनों से मिलना चाहते हैं, तो उनके मन में मिलने की भौतिक इच्छा नहीं रहती। वे उन्हें केवल ऐसे उपदेश देना चाहते हैं जिससे वे लोग लाभान्वित हो सकें। विदुर का सम्बन्ध कौरवों के राजघराने से था। यद्यपि वे जानते थे कि परिवार के सारे लोग कुरुक्षेत्र में मारे

जा चुके हैं, तो भी वे अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र से यह देखने के लिए मिलना चाहते रहे थे कि उनका माया के चंगुल से उद्धार हो पाया है अथवा नहीं। जब विदुर जैसा सन्त पुरुष अपने परिजनों से मिलना चाहता है, तो उसकी एकमात्र अभिलाषा उन सबको माया के चंगुल से उद्धार कराना होता है। इस प्रकार विदुर ने अपने गुरु को सादर नमस्कार किया और कौरवों के राज्य में स्थित हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया।

एतद्यः शृणुयाद्राजराज्ञां हर्यर्पितात्मनाम् ।

आयुर्धनं यशः स्वस्ति गतिमैश्वर्यमाप्नुयात् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; यः—जो; शृणुयात्—सुनता है; राजन्—हे राजा परीक्षित; राज्ञाम्—राजाओं का; हरि—श्रीभगवान् को; अर्पित-आत्मनाम्—जीवन तथा आत्मा को अर्पित करने वाले; आयुः—उम्र; धनम्—धन; यशः—ख्याति; स्वस्ति—क्षेम; गतिम्—जीवन का चरम लक्ष्य, सद्गति; ऐश्वर्यम्—भौतिक ऐश्वर्य; आप्नुयात्—प्राप्त करता है।

हे राजन्, जो लोग श्रीभगवान् के प्रति पूर्णतः समर्पित राजाओं से सम्बन्धित इन कथाओं को सुनते हैं, वे बिना कठिनाई के दीर्घायु, सम्पत्ति, ख्याति, सौभाग्य (क्षेम) तथा अन्त में भगवद्धाम जाने का अवसर प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत “प्रचेताओं को नारद का उपदेश” नामक इकतीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।